राष्ट्रीय सहारा

परत दर परत : राज्यों को वयस्क होने दीजिए

उत्तराखंड में लगाए गए राष्ट्रपति शासन की वैधता पर विचार करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने केंद्र सरकार से सब कुछ पूछा, बस यही नहीं पूछा कि आखिर अनुच्छेद 356 की जरूरत क्या है?

संविधान की यह सब से बदनाम धारा है जिसका प्रयोग अवांछित राज्य सरकारों को विपत्ति में डालने के लिए किया जाता रहा है. इसका दुरुपयोग नेहरू के समय से ही शुरू हो गया था. जैसे ही यह संदेह करने का जरा भी मौका मिला कि राज्य सरकार के पास बहुमत है या नहीं, दिल्ली ने उस पर धावा बोल दिया और राज्य का शासन अपने हाथ में लिया. संविधान का निर्देश है कि जैसे ही विधानसभा भंग हो, छह महीनों के भीतर नए चुनाव हो जाने चाहिए. लेकिन कुछ राज्यों में तो साल भर से ज्यादा समय तक राष्ट्रपति शासन लगा रहा. जिस धारा का मकसद राज्य में राजनीतिक स्थिरता लाना था, उसी का इस्तेमाल राजनैतिक अस्थिरता लाने के लिए किया जाता रहा है.

हम समझते थे कि बोम्मई केस में 1994 में सुप्रीम कोर्ट का फैसला इस मामले में सारे विवाद को खत्म कर देगा. वह फैसला यह था कि किसी भी सरकार का बहुमत संदिग्ध हो जाने पर उसका निर्णय विधानसभा में ही होगा,राज्यपाल भवन या कहीं और नहीं. लेकिन इसका डर कुछ ही वर्षो तक बना रहा. बाद में मनमोहन सरकार ने 356 का अनुचित इस्तेमाल करने का प्रयास किया और अब वही काम मोदी सरकार कर रही है. उत्तराखंड उच्च न्यायालय ने जब उत्तराखंड में मोदी सरकार द्वारा लगाए गए राष्ट्रपति शासन को निरस्त कर दिया और मुख्यमंत्री हरीश रावत को विधानसभा में अपना बहुमत साबित करने को कहा, तो कानून एकदम पटरी पर था. उत्तराखंड हाई कोर्ट ने अपने फैसले में बोम्मई केस में सुप्रीम कोर्ट के उपर्युक्त निर्णय का हवाला भी दिया था. लेकिन पता नहीं क्यों सुप्रीम कोर्ट ने इस फैसले को मुलतवी कर दिया. अब मामला, एक तरह से, सुप्रीम कोर्ट बनाम सुप्रीम कोर्ट का है. देखते हैं, इस द्वंद्व में पहले वाला सुप्रीम कोर्ट जीतता है या वर्तमान सुप्रीम कोर्ट. कायदा तो यही है कि समय के साथ लोकतंत्र को आगे बढ़ना चाहिए, न कि पीछे.

अनुच्छेद 356 का जन्म, मेरे विचार से, एक डर से हुआ था. जब तक भारत विभाजन नहीं हुआ था, पूरी तैयारी भारत को एक संघराज्य बनाने की थी. अभी भी भारत को परिभाषित करने के उपक्रम में उसका एक प्रमाण बचा हुआ है. संविधान में कहा गया है कि भारत, अर्थात इंडिया, राज्यों का संघ होगा. भारत नाम के देश की मूल इकाई राज्य ही है, राज्यों के मिलने से जो बना है, वह संघ है. संघ है तो संघ की सरकार भी होगी, लेकिन उसकी इयत्ता उसके अपने लिए नहीं, बल्कि राज्यों के लिए है. राज्य सरकारें संघ सरकार को बल प्रदान करेंगी, न कि संघ सरकार राज्य सरकारों पर शासन करेगा. लेकिन इसके बाद जो संविधान बना, वह केंद्र को ज्यादा अधिकार देता है और राज्यों को उसका लगभग अनुगत बनाए रखता है. राज्यों को यह अधिकार नहीं है कि वे बहुमत से संघ सरकार को भंग करवाएं पर संघ सरकार को यह अधिकार है कि वह परिभाषित स्थितियों में किसी भी राज्य सरकार को भंग कर सकता है.

संघ सरकार को यह अधिकार इस डर से दिया गया था कि भारत जिस तरह दो टुकड़ों में बंट गया और कुछ राज्यों ने अलग हो कर पाकिस्तान बना लिया, वैसे ही कहीं फिर शेष भारत का विभाजन न हो जाए. खतरा खास तौर से दक्षिण और उत्तर-पूर्व से था. तमिल क्षेत्र में अलगाववादी मानसिकता के कुछ अवशेष अभी भी दिखाई देते हैं. खासकर केंद्र की राजभाषा हिंदी से संबंधित मामलों में, पर उत्तर-पूर्व की आग बरकरार है. ऐसी समस्याएं उन सभी देशों के साथ बनी हुई हैं, जिन्होंने राष्ट्र-राज्य का यूरोपीय मॉडल स्वीकार किया. चीन के साथ भी यह है. दिलचस्प यह है कि टूटा तो वह पाकिस्तान, जिसके पीछे एक जिद थी, भारत नहीं टूटा. अपने भीतर की तमाम अशांतियों का शिकार होने भी कोई उदार, बहुलतावादी गणतंत्र समय-समय पर लचक भले ही जाए, पर वह खंड-खंड नहीं होता.

इसलिए मांग यह उठनी चाहिए कि राज्यों को वयस्क होने दीजिए उनकी इस क्षमता पर भरोसा कीजिए कि अपने राजनैतिक विवाद वे अपने स्तर पर सुलझा सकते हैं. ज्यादातर मामलों में विवाद यही होता है कि सरकार के पास बहुमत है या नहीं. यह विवाद तब पैदा होता है, जब सत्तारूढ़ दल या गठजोड़ से कुछ दल-बदल होता है. दल-बदल रोकने के लिए बहुत स्पष्ट कानून हैं. इसलिए केंद्र अगर धीरज दिखाए, तो विधानसभा की तुरंत बुलाई गई बैठक में बहुमत का फैसला आसानी से हो सकता है. हां, मुख्यमंत्री या विधानसभा अध्यक्ष अगर विधानसभा की बैठक बुलाने से इनकार कर दे, तब राज्यपाल को यह अधिकार दिया जाना चाहिए. तब राज्य में राज्यपाल शासन होगा, न कि राष्ट्रपति शासन. जम्मू-कश्मीर की तरह. भारत के अन्य राज्यों की स्थिति में जम्मू-कश्मीर को लाने के प्रयास से बेहतर है कि भारत के अन्य राज्यों को जम्मू-कश्मीर जैसी मजबूत स्थिति में लाएं. आज जो जितना लचीला होगा, वह उतना ही ज्यादा टिकेगा. और हां, यह भी लिख लीजिए कि विकेंद्रीकरण से राष्ट्रीयता मजबूत होती है, कमजोर नहीं.

दैनिक भास्कर

बिना सरकारी मदद वाईफाई गांव; हर गली में सफाई वाले, स्मार्ट क्लास में पढ़ाई, महिला सुरक्षा के लिए सीसीटीवी कैमरे

हरियाणा में पढ़ी-लिखी पंचायत ने दो महीने में दिखाया बदलाव

गांव की आबादी 6 हजार, 99 फीसदी घरों में है टॉयलेट

झट्टीपुर गांव को जाती मुख्य सड़क।

हरियाणा ने पहली बार पढ़ी-लिखी पंचायत चुनी है। दो महीने में ही असर भी दिखने लगा है। अमूमन नए सरपंच को दो-ढाई महीने तो व्यवस्था समझने में लग जाते हैं। लेकिन यहां एक सरपंच ने इतने समय में गांव की तस्वीर ही बदल दी। वह भी बिना किसी सरकारी ग्रांट के। उसने पंचायत से होने वाली आय और ग्रामीणों के सहयोग से गांव में शहरों जैसी सुविधाएं मुहैया करा दीं। यह कहानी है पानीपत की झट्टीपुर पंचायत और उसके सरपंच अशोक कुमार रुहल की। झट्टीपुर गांव जीटी रोड से लगा है। आबादी कोई छह हजार हाेगी। गांव आज आधुनिक सुविधाओं से लैस है। गांव तक आरसीसी सड़कें हैं और इंटरलॉकिंग गलियां। हर गली के लिए अलग-अलग सफाई कर्मचारी हैं। यहां कूड़ा उठाने के िलए बैट्री रिक्शा है। सफाईकर्मियों के मोबाइल नंबर दीवारों पर बने बोर्ड पर लिखे हैं। साथ ही लिखा है एक वाट्सएप नंबर। किसी को शिकायत है तो वह फौरन मैसेज कर सकता है। पूरा गांव वाईफाई है। एमए, एमफिल और एलएलबी तक की पढ़ाई कर चुके अशोक कहते हैं कि ‘शपथ लेने से पहले अखबारों में गुजरात और महाराष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ पंचायतों के बारे में पढ़ा था। तभी सोच लिया था कि मैं भी अपनी पंचायत ऐसी बनाऊंगा जो दूसरों के लिए मिसाल बने। सरपंच बना तो सबसे पहले घर-घर जाकर बच्चों को स्कूल भेजने के लिए कहा। दो महीने में 500 से ज्यादा दाखिले करवाए।

महिला सुरक्षा के लिए तीन रास्तों पर सीसीटीवी कैमरे लगे हैं। 200 लोगों को नेट कनेक्शन दिए जा चुके हैं। अब गांव से ही ऑनलाइन आवेदन हो रहा है। बुजुर्गों को पेंशन के लिए परेशान होना पड़े इसलिए बैंक कर्मियों को गांव में ही बुला लिया जाता है। 99% घरों में टॉयलेट बन चुके हैं। जहां नहीं हैं वहां ई-टॉयलेट की व्यवस्था है।

ऐसे जुटाया पैसा...

कामके लिए पैसे की जरूरत थी। शुरू में प्रस्ताव बनाए तो अफसरों ने ध्यान ही नहीं दिया। फिर हमने पंचायत की आय पर जोर दिया। उसी से काम शुरू करवाए। कंपनियों से बात की तो मदद मिलने लगी। किसी से ई-टायलेट लिए तो किसी ने पेड़-पौधे दिए। -अशोक रुहल, सरपंच

जागरण

न्याय की अधूरी आस

भावुकता तर्कनिष्ठ और वैधानिक नहीं होती। इसीलिए भारत में न्यायाधीशों को न्यायमूर्ति कहा जाता है। मूर्तियां भी संवेदनशील और भावुक नहीं होतीं। लेकिन देश की सर्वोच्च न्यायपीठ के प्रधान भावुक हो गए। वातावरण स्वाभाविक ही गंभीर हो गया। प्रधान न्यायाधीश ने लाखों लंबित मुकदमों के लिए प्रकारांतर से सरकार को जिम्मेदार ठहराया। कहा कि लंबित मुकदमों के लिए न्यायपालिका को ही जिम्मेदार नहीं माना जा सकता। उन्होंने हरेक स्तर पर जजों की कमी बताई। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का उक्त सम्मेलन को संबोधित करने का कार्यक्रम नहीं था। उन्होंने प्रधान न्यायाधीश से सहमति व्यक्त की और कहा कि यदि संवैधानिक बाधा न हो तो वरिष्ठ मंत्री और न्यायाधीश विचार विमर्श द्वारा समस्या का समाधान करें।

न्यायालयों में सभी स्तरों पर मुकदमों के अंबार हैं और जजों के पद खाली हैं। आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के न्यायाधीश वीवी राव ने 2010 में टिप्पणी की थी कि लंबित मुकदमों के निस्तारण के लिए न्यायपालिका को 320 वर्ष लग सकते हैं। एक अध्ययन के अनुसार अदालतों में लंबित मुकदमों की संख्या तीन करोड़ से भी अधिक है, जबकि अकेले उच्चतर न्यायपालिका में यह आंकड़ा चालीस लाख के आसपास है। जाहिर है, हर स्तर पर मुकदमों के अंबार हैं, लेकिन जजों की कमी ही इस अंबार का कारण नहीं है।

कार्यपालिका मुख्य शासक है। वह संसद व विधानमंडल के समक्ष जवाबदेह है। संविधान और विधिसम्मत न्याय पाना हरेक नागरिक का अधिकार है। देश में लाखों सरकारी कर्मचारी-अधिकारी हैं। सरकार उनकी नियोक्ता है। सरकारें उन्हें भी संतुष्ट नहीं कर पातीं। वे सरकारी निर्णयों के विरुद्ध न्यायालय जाते हैं। न्यायालय उन्हें राहत देता है तो सरकारें उनके विरुद्ध और ऊपर की अदालतों में जाती हैं। मुकदमों के अंबार में सरकार और प्रशासन का ही बड़ा हिस्सा है। आम आदमी गहन व्यथा में ही न्यायालय जाते हैं। लेकिन सरकारें अपने कर्मचारियों व देशवासियों के विरुद्ध लगातार मुकदमेबाजी कर रही हैं। यहां सरकारें ही सबसे बड़ी मुकदमेबाज हैं। अनेक लोग प्रचार इच्छा से मुकदमे करते हैं। श्रीराम पर सीता को पीड़ित करने वाला मुकदमा हाल की ही घटना है। संता बंता के चुटकुले भी न्यायिक विचारण में है। 'भावनाओं को आहत करने' के नाम पर भी ढेर सारे मुकदमे होते हैं। 15 अगस्त स्वाधीनता दिवस न मानने का भी मुकदमा हुआ था।

नागरिक समस्याओं के समाधान के लिए मुकदमा करना अलग बात है, लेकिन प्रचार पाने की इच्छा से ही मुकदमेबाजी का कोई औचित्य नहीं। क्या न्यायपालिका ऐसे अगंभीर वादों से बचने का कोई उपाय खोज सकती है? सरकारें विश्वसनीय प्रशासन देकर मुकदमे घटा सकती हैं। राजस्व विभाग पारदर्शी और प्रामाणिक कार्य करते हुए पीड़ितों को राहत दे सकता है। दीवानी अदालत की शरण कोई नहीं जाना चाहता। पुलिस निष्पक्षता से भी मुकदमों की संख्या घटेगी। पुलिस सामान्यतया अपराध पंजीकृत नहीं करती। पीड़ित अदालत का दरवाजा खटखटाते हैं। अदालत फिर पुलिस से पूछती है। मुकदमा लंबा खिंचता है। प्रशासनिक न्याय की विफलता संपन्न वर्गो की मददगार है।

गरीब मुकदमों का खर्च नहीं उठा सकते। संपन्न अदालती कार्यवाही में घसीटते हैं। मुकदमों में तारीख मिलती है। मुकदमों की संख्या बढ़ती है। हत्या, हत्या के प्रयास आदि संगीन मामलों के पीड़ित पक्ष तारीख लेते थककर टूट जाते हैं। न्याय दर्शन की अभिलाषा पूरी नहीं होती। स्वयं बदला लेकर न्याय करने का विद्रोह भी भड़कता है। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका को भारतीय जनगण की न्याय भूख शांत करने का उपाय खोजना ही होगा। जजों की संख्या में वृद्धि एक उपाय है, लेकिन यही एक उपाय नाकाफी है। समूचे संविधान तंत्र को एक साथ मिलकर ही मूल समस्या से निपटना चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय की अपनी गरिमा है। हमारी न्यायपालिका ने अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाया है। याद कीजिए सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग की बैठक में नहीं गए। तब तक कोर्ट ने आयोग की विधिमान्यता को निरस्त नहीं किया था। संसद के दोनों सदनों व आधे से ज्यादा विधानमंडलों ने 99वां संविधान संशोधन पारित किया था। तब यह भारत की विधि का भाग था। बाद में इसे 'संविधान के मूल ढांचे' के विरुद्ध बताकर निरस्त कर दिया गया। संविधान में

बुनियादी ढांचे का उल्लेख नहीं है। न्यायमूर्ति डीडी वसु के अनुसार 'उच्चतम न्यायालय ने कई नवीन सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं। इनके लिए संविधान में कोई स्पष्ट आधार नहीं है।

यदि यह प्रवृत्ति रोकी नहीं जाती तो इसके गलत परिणाम होंगे। कोई कह नहीं सकता कि किन-किन क्षेत्रों में नवीन सिद्धांतों का विस्तार होगा, क्योंकि इसमें अंतिम वचन न्यायालय का होगा। संविधान संशोधन न्यायपालिका द्वारा होगा, जबकि संविधान संशोधन (अनु. 368) विधायिका का अधिकार है।' विधायिका ने संवैधानिक प्राधिकार में नियुक्ति आयोग बनाया था। संवैधानिक विधि की निरस्ति विधायिका के क्षेत्रधिकार का अतिक्रमण क्यों नहीं है? क्या नियुक्ति आयोग के निरस्त होने के कारण नई नियुक्तियों पर प्रभाव नहीं पड़ा?

संप्रति देश में हजारों कानून हैं। ढेर सारे कालवाह्य हो चुके हैं। न्याय प्रक्रिया उनसे प्रभावित होती ही है। विधि आयोग ऐसे कानूनों को खंगालता भी है लेकिन कालवाह्य विधियों का अनुकूलन नहीं होता। विधि आयोग ने 1987 में प्रति 10 लाख की जनसंख्या पर 50 जजों की जरूरत बताई थी। इस पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। 2016 की परिस्थितियां भिन्न हैं। मुकदमे लगातार बढ़े हैं। न्याय दूर की कौड़ी बनता जा रहा है। न्यायपालिका के प्रति बेशक यहां आदर और विश्वास है। कार्यपालिका की आलोचना संभव है, होती भी है। कार्यपालिका संसद और विधानमंडल के प्रति भी जवाबदेह है। प्रशासनिक सेवाएं भी कार्यपालिका व विधायिका के प्रति जवाबदेही में हैं। भारत की सभी संवैधानिक संस्थाएं किसी न किसी स्तर पर जवाबदेह हैं, लेकिन न्यायपालिका आदरणीय होने के बावजूद जवाबदेह नहीं है। हम उसकी कार्यशैली का विवेचन नहीं कर सकते।

हम उसकी स्थापनाओं व निर्णयों पर टिप्पणी भी नहीं कर सकते। मूलभूत प्रश्न यह है कि भारत के संविधान तंत्र का सर्वाधिक भरोसेमंद न्यायिक निकाय अपनी जवाबदेही का कोई तंत्र क्यों विकसित नहीं करता? न्यायिक स्वतंत्रता निश्चित ही भारतीय संविधान का गौरवशाली भाग है, लेकिन जवाबदेही का भी कोई निकाय होना ही चाहिए। सर्वोच्च न्यायपीठ विचार करे। वरिष्ठ जजों, कार्यपालिका के जिम्मेदार मंत्रियों व विधायिका के वरिष्ठों की कोई समिति बने। वही न्यायपालिका की कठिनाइयों और चुनौतियों का भी निराकरण करे। इसकी कार्यवाही सूचना के अधिकार या आमजन की जानकारी से परे रखी जा सकती है।

[**लेखक हृदय नारायण दीक्षित, उप्र विधान परिषद में भाजपा विधायक दल के प्रमुख हैं**]

THE TIMES OF INDIA

Jobs not Quotas

Expanding quotas will not address frustrations arising from jobless growth

Gujarat's announcement of a 10% quota for economically backward classes in education and government jobs represents a misdiagnosis of a pressing problem. The proposal is bound to be challenged legally as aggregate quotas will overshoot the permitted 50% mark. Moreover the agitating Patels, who the announcement sought to pacify, have dismissed it as "another lollipop from the BJP factory".

The reality is that government cannot expand jobs fast enough to address contemporary society's malaise: joblessness. Myriad agitations are only symptoms of the frustration among young Indians. If our demographic transition, where there is an ongoing surge in the working age population, is to translate into a dividend and not a nightmare, governments must address the challenge of joblessness. Over the last 15 years millions have moved out of agriculture, with only construction expanding noticeably to absorb the influx. Worryingly, manufacturing and services have not pulled their weight in job creation. For this, governments' counterproductive policies must take the blame.

The nature of government intervention needs to be radically transformed. Right now, at both central and state levels, we are witnessing more government and less governance. In a complex world characterised by rapid changes in technology and trends, governments are not in a position to pick winners. Entrepreneurs are best placed to make these choices and governments need to get out of their way by removing barriers to economic activity. Simplification of regulations needs to be complemented by smarter regulation.

Enhancing the quality of public education, dismantling the licence raj shackling private education, skilling and physical infrastructure will help India grab

opportunities. As wages in China increase, it opens the door for India's export-led apparel industry and other labour-intensive industries, which can generate millions of jobs. A World Bank report, entitled "Stitches to Riches?" estimates that even a 10% increase in Chinese apparel prices can be leveraged to create at least 1.2 million jobs in the Indian apparel industry. This would be particularly good for women who are prolifically employed by the apparel industry, addressing India's appalling gender inequities. But the government's approach must be tailored to capitalise on available opportunities. For example India's ruinous labour laws, which create a new caste system whose Brahmins are organised labour and whose quasi-untouchables are roughly 93% of the labour force consigned to the informal sector, must be reformed to give a better chance to the rest.

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

All elections together. Why not?

The Congress has the problem that it is still furiously in denial about its defeat. On the idea of simultaneous elections, it again stirred up Uttarakhand.

Prime Minister Narendra Modi has reiterated his suggestion that Centre and state elections should be held together. This is an idea whose time has come and we need a widespread and serious discussion in legislatures and in civil society about it.

The Congress has the problem that it is still furiously in denial about its defeat. On the idea of simultaneous elections, it again stirred up Uttarakhand. If anything, Uttarakhand has shown how much more mature Indian democracy has become. Thus a routine exercise of Article

356, like Indira Gandhi used to make, is no longer acceptable as states are jealous of their own democratically elected parliaments. Anyway, Modi would need four terms as PM to break Indira Gandhi's record on Article 356.

The beauty of the proposal of simultaneous elections is that it may also solve the anomalies created by Article 356. As I have argued just recently, the idea that the Centre can overrule state governments is anti-federalist. If the Central government cannot similarly have President's Rule imposed, then why should any state suffer the burden?

Simultaneous elections assure that the Centre and the states are on a par. Of course, it will revolutionise politics since India will not be in perpetual election mode. That will allow governments at all levels to concentrate on policy-making.

It is however not easy to accomplish. Indian democracy is built on the Westminster model where governments can be removed on a no-confidence motion. That is a guarantee that the government enjoys the confidence of Parliament, which represents the people. If the government does not have the confidence of Parliament, it has to resign and new elections have to be called.

Simultaneous elections can work only if each and every government lasts five years regardless of confidence. This seems to contradict the very principle of democracy. However, in Westminster itself, there has been legislation during the last coalition government of Conservatives and Liberal Democrats which offers a way out. The Liberal Democratic Party as a minority party has been always radical on political matters, especially voting systems and the quality of democracy.

Thus in 2011, soon after the coalition government was formed, Parliament passed Fixed-Term Parliament Act 2011. The Act stipulates that elections will be held every five years on the first Thursday in May. A government in office can only be removed and fresh elections called if either by a two-thirds majority of all members, including absent members, Parliament decides to advance the date of election or if by the same sort of two-thirds majority, Parliament passes a no-confidence motion. If this motion is not reversed within a fortnight by the sitting government, also with a two-thirds majority, then new elections have to be called.

Thus every government can last full five years unless it has a two-thirds majority against it. This is a tough but fair rule. In Indian conditions, one could modify it by putting the bar at 60 per cent. But the idea is that elected governments should not be lightly dismissed.

The UK has not extended this principle to the regions as Parliament at Westminster does not have the power. For India, any such Act would require re-examination of Article 356. That cannot be a bad thing.

THE ECONOMIC TIMES

Cart Before the Horse?

The easier option of consumption-led growth may not be best for Indian economy

Post the global financial crisis, received wisdom has it that while China needs to rejig its growth model away from excessive dependence on investment towards more consumption, India needs to focus more on investment. But eight years after the crisis, what we are seeing is more of the same.

According to Singapore-based financial markets consultant Anantha Nageswaran, the rebalancing from investment to consumption-led growth that the Chinese leadership vouchsafed in the aftermath of the crisis has not happened. Instead, loans to the property sector are driving economic growth in China.

A Pinch of Ajinomoto

Given how little the outside world really knows about developments in China, any statement about Chinese growth must be taken with a pinch of salt. Nonetheless, the reality is China has shown a unique ability to tide over crises, and by that logic, it should be able to tide over the next one too. The same cannot be said with equal vigour about India.

Not only are we much poorer — the average Chinese is four times richer than the average Indian — but the difference in our political systems and the underlying tensions in our social fabric raises stakes much higher. Hence the need to pause and reflect on the wisdom of pinning our hopes on a consumption-rather than an investmentled model of growth as a means to sustained, higher economic growth.

What is the difference and why is it important? Consumption-led growth relies on higher consumer spending — via the Seventh Pay Commission largesse and one rank, one pension payout, for instance — to raise aggregate demand and lead to higher investment and faster economic growth.

Investment-led growth, in contrast, relies on investment to create new capacity. This, in turn, creates more employment and hence higher demand, while simultaneously, increasing productive capacity. As supply rises in tandem with higher demand, growth picks up.

That's in theory. In practice, things may turn out a bit different. But both in India as well as globally, experience has shown that in the long term, economic growth is likely to be higher and more sustained if it is investment-rather than consumptionled.

In the short term, moreover, consumption-led demand could result in an increase in imports (in response to higher demand) and, possibly, a higher current account deficit as well. In the long term, it could also lead to inflation, unless there is sufficient spare capacity in sectors where there is more demand or where investment has created additional capacity.

Else, as economic recovery begins, demand pressures from rising incomes and the sudden release of pent-up demand could, in the absence of an adequate supply response, lead to overheating of the economy and inflation. As we in India discovered to our cost earlier when we tried to put the cart before the horse.

The trick, therefore, is to ensure that supply rises in tandem with demand — a tall order at best of times. In a large, complex economy, it is incredibly difficult to fine-tune demand and supply. While demand increases almost instantaneously in

response to higher salaries, for instance, supply increases after some time. Leads and lags are inevitable.

Banks, Lend Me Your Money

The job of policymakers, therefore, is to keep an eye on both demand and supply-side dynamics to reduce the gap as far as possible (read: ensure investment picks up). Given the government's limited ability to invest in view of its fiscal compulsions, this means investment must come from corporates. Which in a bank-driven economy like ours means credit must flow from banks to corporates.

And in the absence of term-lending institutions like the erstwhile Industrial Development Bank of India (IDBI), to infrastructure as well. It is naïve to expect that corporates will be able to source all their needs from the corporate bond market.

Unfortunately, bank credit data shows most loans going to retail consumers, not corporates. During April 2015-February 2016, retail loans grew close to 20% while total lending grew at barely 10%. This might keep individual balance sheets in pristine shape but does very little for the macro economy — questioning, as State Bank of India chairperson Arundhati Bhattacharya pointed out, the wisdom of the push to retail lending.

With overleveraged corporates, unwilling to invest, and bank credit not forthcoming, gross fixed capital formation has fallen to new lows. From a high of 33% in 2007-08, gross fixed capital formation is now less than 30%. This must be reversed if higher consumption is not to lead to overheating and inflation.

Both government and RBI have a role to play here. Government by facilitating policy and removing bureaucratic hurdles. RBI by ensuring that credit to industry is not hindered by short-sighted directives that could have unintended consequences.

Possibly, by also revisiting the advice Prime Minister Manmohan Singh had given D Subbarao when he took over as RBI governor, "[In the RBI], one runs the risk of losing touch with the real world.

With your mindspace fully taken up by issues like interest rates, liquidity traps and monetary policy transmission, it is easy to forget that monetary policy is also about reducing hunger and malnutrition, putting children in school, creating jobs, building roads and bridges and increasing the productivity of our farms and firms." Amen.

पांच साल में इंसानों का वजूद मिटा देंगे रोबोट

नाजुक दौर में और विनाश की कगार पर खड़ी है मानव सभ्यता

जेएनएन, लंदन। मानव सभ्यता बहुत ही नाजुक दौर में और विनाश की कगार पर खड़ी है। एक नई रिपोर्ट में इस बात की चेतावनी देते हुए बताया गया है कि दुनिया के खत्म होने के कई कारण बन रहे हैं जिनसे बचने के लिए हमें बेहतर तरीके से तैयारी करनी होगी।

इस रिपोर्ट में वर्ष 2016 में आसन्न खतरों में शीर्ष पर वातावरण परिवर्तन से संबंधित खतरों, प्राकृतिक महामारी जैसे बर्ड फ्लू एवं परमाणु युद्ध को रखा गया है। सूची में शामिल अन्य खतरों में मानव-निर्मित वायरस, जियो इंजीनियरिंग का फेल होना के साथ ही कृत्रिम बुद्धिमत्ता से जुड़े जोखिमों को शामिल किया गया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि मानव सभ्यता के विलुप्त होने का खतरा पाँच गुना बढ़ गया है। अंतरिक्ष पिंड के गिरने व ज्वालामुखी फटने से होने वाले विनाश को सूची में सबसे नीचे रखा गया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि कृत्रिम बुद्धिमता का विकास जितनी तेजी से हो रहा है उसे देखकर ऐसा लगता है कि आने वाले पाँच साल में ही रोबोट धरती से मनुष्य का वजूद मिटाने में सक्षम हो जाएंगे। रिपोर्ट के पहले पन्ने पर विश्व के विनाश के जोखिमों के बारे में चर्चा की गई है जिससे दुनिया की आबादी के दस फीसदी यानी 74 करोड़ लोगों के मारे जाने का खतरा है। पूर्व में भी कई ऐसी घटनाएं अप्रत्याशित रूप से सामने आई हैं, जिनमें बड़ी संख्या में लोग मारे गए हैं। इसका सबसे ताजा उदाहरण वर्ष 1918 में इन्फ्लूएंजा के रूप में सामने आया था जब प्रथम विश्वयुद्ध से भी ज्यादा लगभग पाँच करोड़ लोग मारे गए थे। इसके बाद संपूर्ण मानवता के विनाश का खतरा वर्ष 1960 में तब उत्पन्न हो गया था जब शीतयुद्ध के दौरान परमाणु हमले का खतरा महज एक बटन दूर रह गया था। वैश्विक विनाश के जोखिम 2016 रिपोर्ट तैयार करने वाले वैश्विक चुनौतियां फाउंडेशन के संस्थापक लाजलो जोम्बाटफाल्वी का कहना है कि मुझे उम्मीद है कि इस रिपोर्ट का प्रकाशन वैश्विक विनाश के जोखिमों के प्रति गहरी समझ पैदा करेगा तथा इन जोखिमों का बेहतर मुकाबला कैसे किया जाए इस विषय पर सार्थक बहस एवं समाधान ढूंढने का मार्ग प्रशस्त करेगा। रिपोर्ट में जो 22 सिफारिशें की गई हैं उनमें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बंधनकारी निर्णय की आवश्यकता बताई गई है।